

---

## इकाई 1 पुरुष, पुरुषोत्तम, आत्मा एवं धर्म

---

### इकाई की रूपरेखा

- 1.0 उद्देश्य
- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 विषय का सामान्य परिचय
- 1.3 आत्मा
- 1.4 ब्रह्म
- 1.5 पुरुषोत्तम
  - 1.5.1 परा एवं अपरा प्रकृति
  - 1.5.2 सगुण एवं निर्गुण रूप
- 1.6 ईश्वर
  - 1.6.1 राजानुआचार्य का मत
  - 1.6.2 मध्वाचार्य का मत
  - 1.6.3 निम्बार्काचार्य का मत
  - 1.6.4 वल्लभाचार्य का मत
- 1.7 सारांश
- 1.8 पारिभाषिक शब्दावली
- 1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 1.10 बोध प्रश्न

---

### 1.0 उद्देश्य

---

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप—

1. ब्रह्म, पुरुषोत्तम, आत्मा, ईश्वर शब्द के अर्थ को जान सकेंगे।
2. इन शब्दों के मध्य अन्तर्सम्बन्ध को जान सकेंगे।
3. इन शब्दों के मध्य अन्तर्सम्बन्ध को जान सकेंगे।
4. ब्रह्म, पुरुषोत्तम, ईश्वर तथा आत्मा एक ही सत्ता के अवस्था भेद है, इस तथ्य का विश्लेषण कर सकेंगे।

---

### 1.1 प्रस्तावना

---

वेद को सम्पूर्ण मानव जाति के इतिहास की सबसे पुरानी रचना होने का गौरव प्राप्त है। वेद सम्पूर्ण भारतीय साहित्य, दर्शन, कला, संगीत तथा सभी प्रकार के ज्ञान-विज्ञान का सर्वाधिक प्रामाणिक एवं निर्विवादित स्रोत है। यहाँ सुविदित है कि मनुष्य का विचारशील मस्तिष्क अपने जीवन की आन्तरिक अनुभूतियों एवं बाह्य जगत् को समझने के लिए गहरी आकांक्षा रखता है। मैं कौन हूँ? मेरे अनुभव में आने वाला समस्त दृश्यमान जगत् क्या है? इसमें और मुझमें क्या सम्बन्ध है? मेरा और इस जगत् का प्रयोजन क्या है? इत्यादि विचारों के बादल सहज ही घेर लेते हैं। ये सभी प्रश्न दार्शनिक एवं बौद्धिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

इस प्रश्नों के उदय होने का कारण है अखिल विश्व के मूल कारण तथा स्वयं अपने स्वरूप को जानने की जिज्ञासा। क्योंकि स्वयं 'अपने आप' के बाद ही अखिल या सार्वभौम की धारणा की सम्भावना है। ऋग्वेद (10/129/6) के उद्गारों में तत्त्वचिन्तन की प्रथम स्पष्ट अभिव्यक्ति प्राप्त होती है जो मूल जिज्ञासा से सम्बन्धित है। इसके अनुसार, "प्रकृत तत्त्व को कौन जानता है? कौन उसका वर्णन करें? किस उपादान और निमित्त कारण से ये विविध सृष्टियाँ हुई? कहाँ से सृष्टि हुई, यह कौन जानता है?"

इस जिज्ञासा ने इसी समय दो चिन्तनधाराओं को जन्म दिया। जिनमें से एक का लक्ष्य था खुद से बाहर प्रतीत हो रहे बाहरी विश्व का मूल स्रोत खोजना तथा दूसरे का लक्ष्य था खुद के वास्तविक स्वरूप को खोजना। प्रथम चिन्तनधारा में बाहरी जगत् के मूल स्थान पर विभिन्न देवताओं की अवधारणाएँ विकसित हुई। जबकि द्वितीय चिन्तनधारा ने कभी प्राण, कभी मन आदि में अपने अस्तित्व को ढूँढने का प्रयास किया किन्तु उचित समाधान प्राप्त नहीं हुआ। फिर इसी स्थिति के विचारकों ने व्यक्ति एवं जगत् के मध्य अनुरूपता को ढूँढने चाहा।

## 1.2 विषय का सामान्य परिचय

यदि हम प्राचीन सृष्टि के आख्यानो अथवा कथाओं का अध्ययन करें तो यह ज्ञात होता है कि प्रजापति ने जल में कमल पर बैठकर विश्व को उत्पन्न किया था। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रजापति विश्व के निर्माता थे। वस्तुतः इस विचार का कारण यह था कि उस समय लोकनायकों अथवा नेताओं को प्रजापति कहा जाता था और वे ही सामाजिक संस्थाओं के सच्चे सूत्रकार थे। सभी प्रकार के सामाजिक व्यवहार जैसे परिवार, अर्थव्यवस्था और युद्ध आदि इन्हीं लोकनायकों के नेतृत्व में सम्पन्न होते थे। अतः वैदिक कालीन मानवों ने अपने आस-पास के घटनाओं एवं क्रिया-कलापों को देखकर एक ऐसी दृढ़ भावना उत्पन्न हुई कि इस विशाल विश्व के कर्ता-धर्ता भी एक ऐसे ही प्रजापति होंगे।

परन्तु बाद में विचार-पद्धति में सुधार एवं प्रगति के कारण उस काल के मानवों को इसका एक अलग अर्थ करने का प्रयत्न किया। जिसका एक अच्छा उदाहरण तैत्तिरीय संहिता (15/6/4/2) में प्राप्त होता है। इस उदाहरण के अनुसार, "प्रारम्भ में सर्वत्र जल ही जल था। प्रजापति वायुरूप धारण कर कमलपत्र पर क्रीड़ा कर रहे थे।"

भारतीय समाज के चार वर्ण अर्थात् समाज की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वैदिक ऋषियों की यह धारणा थी कि प्रजापति के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, जंघाओं से वैश्य तथा पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए। जैमिनि ब्राह्मण (1/6/8) में इस कथा के अर्थ को रूपक के तौर पर वर्णित किया गया है- 'प्रजापति प्रारम्भ में विद्यमान थे, प्रजापति (देवता) का अर्थ है जनता'। इस अर्थ से स्पष्ट है कि मुख, बाहु आदि को भी एक रूपक ही मानना चाहिए।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्राचीन ग्रंथों जैसे जैमिनि ब्राह्मण, तैत्तिरीय संहिता आदि ग्रंथों में 'प्रजापति' शब्द के अनेक अर्थ किए गये हैं, जैसे- सूर्य, चन्द्र, यज्ञ, वाणी, मन प्राण, अन्न, आत्मा आदि। केवल इतना ही नहीं अपितु समूचे विश्व को भी प्रजापति की संज्ञा दी गई है।

भारतीय मेधा (बुद्धि) के विकास—क्रम के फलस्वरूप परमतत्त्व से सम्बन्धित प्रजापति की उक्त अवधारणा पुरुष अथवा विराट् पुरुष के अर्थ में परिवर्तित हो गयी। अब व्यक्ति अथवा मानव को माध्यम बनाकर जगत् के मूलभूत कारण को समझने का प्रयास होने लगा। यदि सरल शब्दों में कहा जाए तो परम् तत्त्व पहले प्रजापति के नाम से जाना गया, हिरण्यगर्भ भी वही है और पुरुष अथवा विराट् पुरुष भी वही है। जैसे—जैसे बुद्धि का विकास होता गया वैसे—वैसे परम तत्त्व का नाम या संज्ञा भी बदलता गया परन्तु उसके स्वरूप, लक्षण, प्रकृति तथा कार्य आदि में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

व्यक्ति के माध्यम से जगत् के मूल को समझने का प्रयास ऋग्वेद के पुरुषसूक्त (10/90/11-14) में स्पष्ट रूप से हुआ है। जहाँ जगत् के भागों को किसी एक मूल पुरुष का अंग बताया गया है। वेदों में वर्णित यह विराट् पुरुष केवल मानव समाज में ही व्याप्त नहीं अपितु जीव—जन्तु, जड़—चेतना के भी विस्तार में है और यह पुरुष सब में किसी चेतना सत्ता को जोड़ने वाला कहा गया है। ब्रह्माण्ड के प्रत्येक कण से लेकर चन्द्रमा, पृथ्वी जैसे विशाल भूत—तत्त्वों को उस विराट् पुरुष का कोई न कोई अंग माना गया है— **अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यो दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।** (मुण्डपकोपनिषद्, 2/1/4)

विराट् पुरुष की व्यापकता और समग्रता का वर्णन करते हुए ऋग्वेद का दसवाँ मण्डल कहता है कि वह (पुरुष) जड़—चेतन के समूचे विस्तार को व्याप्त करते हुए उससे परे भी दस अंगुल निकल जाता है। जितने भी सिर और पैर से सब उसी के है— **सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रणत्। सभूमिं सर्वत स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशांगुलम्।** (ऋग्वेद, पुरुषसूक्त, 1)। इतना ही नहीं पुरुष तत्त्व सर्वव्यापी है, जो भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों में सदैव व्याप्त रहता है— **‘पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।’** (पुरुषसूक्त, 2) अर्थात् जो कुछ है, जो हुआ अथवा होगा वह यह एक पुरुष ही है।

वास्तव में आरम्भ में कल्पना यह थी कि शरीर में विद्यमान जीवात्मा एक मनुष्य है, यानी उसका आकार मनुष्य जैसा है। परन्तु मानवीय मस्तिष्क के विकास की अवस्था में धीरे—धीरे यह धारणा विकसित हुई कि आत्मा एक शक्ति है, वह मनुष्य के आकार से युक्त अर्थात् इतनी स्थूल (स्थान घेरने वाला) नहीं हो सकती। तब मनुष्य के अर्थ में जीवात्मा का ज्ञान कराने वाले ‘पुरुष’ शब्द के अर्थ में व्युत्पत्ति के आधार पर परिवर्तन होना शुरू हुआ। ‘पुरुष’ शब्द का मूल अर्थ है मनुष्य के शरीर के हृदय या नेत्रों जैसे अवयव (अंग) में स्थिर होकर विचार करने वाली जीवात्मा निश्चय ही सूक्ष्म है। इसलिए वैदिक मुनियों ने सोचा कि इस जीवात्मा के लिए ‘पुरुष’ शब्द का उपयोग दूसरे अर्थ में करना चाहिए।

अथर्ववेद में ‘पुरुष’ शब्द की जो व्युत्पत्ति दी गई है वह है— ‘पुरि+शय’ अर्थात् घर में रहने वाला। शरीर विश्व के शक्तियों का पुर अर्थात् घर है। ‘पुरुष’ शब्द की व्युत्पत्ति उक्त अलंकारिक अर्थ को स्वीकार कर बतलाई गई है। अथर्ववेद (10/2/28-33) में वर्णित है कि “पुरुष सभी दिशाओं में व्याप्त है। वह ब्रह्म है। उस ब्रह्म के पुर को (धर को) समझना चाहिए इसीलिए उसे ‘पुरुष’ कहा जाता है।”

यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि वैदिक कल्पनाओं में तत्त्व की दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण कल्पनाएँ सिर्फ तीन हैं— पुरुष, ब्रह्म तथा आत्मा। यहाँ ‘पुरुष’ शब्द का अर्थ

परमेश्वर से है। विश्व का अन्तिम सत्य पुरुष रूप है। अतः ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में उसका निर्देश केवल 'पुरुष' संज्ञा से किया गया है। छान्दोग्य उपनिषद् में इसी को उत्तम 'पुरुष' कहा गया है। ईश्वर, पुरुषोत्तम अथवा परम पुरुष है यह कल्पना वास्तव में संसार के सभी धर्मों की आधारशिला है। क्योंकि प्रार्थना, पूजा, समर्पण सब धर्मों का स्वरूप है। जो सर्वज्ञ, कृपावाला है उसकी प्रार्थना, पूजा, आराधना करना उदित ही है अन्तिम कल्याण या निःश्रेयस की और संसार में यश की प्राप्ति के लिए एक साधन के रूप में मानव धर्म का उपयोग करता आया है। इसलिए यह श्रद्धा रखना जरूरी है कि ईश्वर पुरुष है, मनुष्य है। ईश्वर वह मानव है जो सब मनुष्यों में सर्वोपरि है। यह श्रद्धा विश्व के सभी धर्मों की जड़ है।

कहने का तात्पर्य है कि विराट् पुरुष ही विश्व-चैतन्य है अथवा विश्व का प्राण है। यह पुरुष हमारे शरीर से भिन्न है। इसलिए बड़े विचार के बाद हमारे मनीषियों ने 'पुरुष' का अर्थ किया था— 'पुर (घर) निवासी तत्त्व'। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो विश्व ही 'पुरुष' है।

प्रकृति की महान् शक्तियों को 'पुरुष' का रूप प्रदान कर उसकी आराधना के साथ-साथ प्राकृतिक शक्तियों का नियंत्रण करने वाले देवता को भी 'पुरुष' रूप मानकर की गई प्रार्थना ऋग्वेद में प्राप्त होती है।

सोम, अग्नि, सूर्य, सविता, पूष्व्, पृथ्वी, जल, वायु, द्युलोक आदि प्राकृतिक शक्तियाँ हैं। इन्द्र, वरुण, प्रजापति, विश्वकर्मा, अदिति प्राकृतिक शक्तियों के नियामक देवता हैं। किन्तु इन्हें किसी एक विशेष शक्ति से एक रूप नहीं माना जा सकता।

इन दोनों प्रकार के देवताओं से सम्बन्धित भावों का समावेश करने वाली कल्पना का ऋग्वेद में वर्णन हुआ है और वही 'पुरुष' की कल्पना है। अथर्ववेद के दसवें काण्ड के दूसरे सूक्त में मनुष्य-रचना के सम्बन्ध में आश्चर्य के साथ जिज्ञासा प्रकट होती है।

अति प्राचीन काल में मानव को मनुष्य की रचना के सम्बन्ध में पहली जिज्ञासा कैसे उत्पन्न हुई इस बात का यह सूत्र एक उत्कृष्ट उदाहरण है। अथर्ववेद के दसवें काण्ड के द्वितीय सूक्त में प्रश्न किया गया है कि जागृति तथा निद्रा को, सुख और दुःख को, सुबुद्धि और दुर्बुद्धि, सत्य तथा असत्य को किसने निर्माण किया? इसके साथ-साथ एक अन्य प्रश्न भी है— भूमि, द्युलोक, अग्नि की व्यवस्था किसने की?

दोनों प्रश्नों के उत्तर में कहा गया है कि मानव तथा विश्व की रचना 'पुरुष' रूप ब्रह्म ने की है। जैसे गौशाला में गायें निवास करती हैं। उसी तरह मानव शरीर में ब्रह्मा के साथ सारे देवता निवास करते हैं। मनुष्य के शरीर में विश्व शक्तियों का वह मेल हुआ है जो उसके कार्यों के लिए उपयोगी है। इसे देखकर विश्व में इसी तरह के मेल की कल्पना का उदय हुआ और इसी ने विराट् पुरुष की कल्पना को जन्म दिया। इसके अतिरिक्त प्राकृतिक शक्तियों में जो क्रमव्यवस्था, नियमबद्धता और तार्किक दिखाई दी उसका समाधान विराट् पुरुष की कल्पना से हुआ है।

सच बात तो यह है कि ऋग्वेद इस विश्व के एक अद्वितीय शक्तिशाली तत्त्व अथवा एक नियन्ता से परिचित है तथा वह विभिन्न देवताओं को उसी की विभिन्न शक्तियों का प्रतिनिधि बतलाता है। अनेकता के बीच एकता की भावना, भिन्नता के बीच अभिन्नता की कल्पना दार्शनिक जगत् में सर्वथा मौलिक तत्त्व है।

वैदिक साहित्य के अध्ययन से यह बात उभरकर आती है कि इस देवता की विभिन्न संज्ञायें अथवा नाम हैं। वही प्रजापति है, वही हिरण्यगर्भ है, और वही विराट् पुरुष अथवा पुरुष है।

वेदों में परम पुरुष के अग्नि रूप का विचार भी प्राप्त होता है यहाँ आदि पुरुष को अग्निरूप या सूर्यरूप माना गया है तथा उसे हिरण्यगर्भ की उपाधि दी गई है। ऋग्वेद के दशम मण्डल का 121वाँ सूक्त (जिसे हिरण्यगर्भसूक्त कहा जाता है) गहरे आध्यात्मिक भावों को समेटे हुए है। उत्कृष्ट दार्शनिक विचारों के कारण यह सूक्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके अनुसार, 'यह हिरण्यगर्भ सबसे पहले उत्पन्न हुए, जो संसार के सभी प्राणियों के अधिष्ठाता है, वे पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश को धारण करने वाले हैं। यज्ञादि में उन्हीं के प्रसादनार्थ हम लोग हविष्य का होम किया करते हैं।' इस प्रजापति का स्वरूप आनन्दमय भी है और अनिर्वचनीय भी हैं। इन्हें ऋग्वेद में 'कः' शब्द की संज्ञा दी गई है। ये प्रजापति समस्त प्राणियों की आत्मा को बल प्रदान करते हैं। यहाँ यह बात महत्त्वपूर्ण है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रजापति ही सर्वश्रेष्ठ देवता बताए गये हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संहिता कालीन तत्त्व चिन्तन की अभिव्यक्तियों में मनुष्य की आत्मा को विश्व का परमतत्त्व मानने की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है जो फिरी ब्राह्मण एवं आरण्यक ग्रन्थों में मनुष्य एवं विश्व के एक ही मूलभूत परमतत्त्व आत्मा के नाम से अभिव्यक्त होता है जिसका ज्ञान मनुष्य को पवित्र बना देता है। तैत्तिरीय आरण्यक (1/13/1) में कहा गया है कि 'अहं वेद न मे मृत्युः' अर्थात् जो कभी विनष्ट नहीं होता। तैत्तिरीय ब्राह्मण (1/2/1/20) के अनुसार 'अहं त्वदस्मि मदसि त्वदेतत्' अर्थात् जिससे रहित कुछ नहीं है पर चाहने पर अनेक भी हो सकता है, हो जाता है। (अहमेवेदं सर्वं भूयासम्— शतपथ ब्राह्मण (14/9/3/13)।

संहिता काल की परम तत्त्व सम्बन्धी जिज्ञासा उपनिषद् काल में भी स्पष्टतः दिखायी पड़ती है किन्तु यहाँ परम तत्त्व सम्बन्धी जिज्ञासा का सरलीकरण नहीं हुआ था, यह अभी भी अपने कठिन स्वरूप में बनी हुई थी परन्तु कठिन होने के कारण ऐसा नहीं हुआ कि उस पर वैदिक ऋषियों ने विचार नहीं किया है। इस काल तक आते-आते भारतीय संस्कृति में यज्ञ भावना सुदृढ़ हो चुकी थी। अब परम तत्त्व सम्बन्धी जिज्ञासा जीवन का मूल प्रश्न बन जाती है क्योंकि तब तक वैदिक ऋषियों के मन में यह मान्यता दृढ़ रूप ले चुकी थी कि इस शरीर में रहते हुए ही उस परम तत्त्व को जाना जा सकता है। अतः उपनिषत्काल में चिन्तकों की सम्पूर्ण शक्ति मानो इसी एक विषय आत्म-तत्त्व पर केन्द्रित हो जाती है।

अनन्त से एक ही ओर बढ़ने की प्रवृत्ति और अभिलषित एक तक पहुँचने का सुन्दर निदर्शन बृहदारण्यकोपनिषद् (3/9/1-9) में शाकल्य व याज्ञवल्क्य के संवाद में मिलता है, जहाँ देवताओं की संख्या तीन हजार तीन से क्रमशः घटाकर एक तक लायी गई है। वह एक देवता है प्राण अर्थात् ब्रह्म। पुनः शतपथब्राह्मण के अनुसार देवताओं की संख्या तैंतीस मानी गयी है। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि मानवीय बुद्धि का जैसे-जैसे विकास होता गया वैसे-वैसे तत्त्व-चिन्तन की प्रक्रिया तार्किक रूप से मजबूत होती गयी। यही कारण है कि वैदिक सर्वेश्वरवाद का सिद्धान्त धीरे-धीरे एकेश्वरवाद या एकत्ववाद या अध्यात्मवाद में बदल गया। प्रारम्भिक वैदिक चिन्तन के मूलतत्त्व प्रजापति, हिरण्यगर्भ, विराट्पुरुष, परमपुरुष अथवा पुरुष (एक

देवता के विभिन्न नाम) को अब आत्म-तत्त्व, आत्मा अथवा ब्रह्म के रूप में जाने जाना लगा।

### 1.3 आत्मा

हमारे वैदिक ऋषियों ने आत्मा या आत्म-तत्त्व के स्वरूप का विवेचन उपनिषदों में बड़ी छान-बीन तथा सजगता के साथ किया है। पुरुष की अपेक्षा आत्मा की कल्पना दार्शनिक और बौद्धिक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

विश्व परम् पुरुष का रूप है। इसी विचार से उसे आत्मा मानने वाली अवधारणा का जन्म होता है। चूँकि मानव (पुरुष) अपना उल्लेख 'अहम्' से करता है। 'आत्मा' से मनुष्य अपनी जीवनशक्ति का निर्देश करता है। ऋग्वेद में 'आत्मा' का यह अर्थ बहुत प्रसिद्ध है। 'आत्मा' वही जीवन-प्राण तथा चैतन्य का रूप है जिसमें जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति की अथवा जन्म-मरण की अवस्थाएँ पिरोयी गयी है। हमें यह मालूम है कि विश्व उत्पत्ति, स्थिति तथा लय की अवस्थाओं से गुजरता है। इन सब अवस्थाओं को व्याप्त करने वाली जीवन-शक्ति के अर्थ में 'आत्मा' शब्द उपनिषदों द्वारा परम् पुरुष के लिए प्रयुक्त हुआ है।

विश्व-शक्ति को देवता मानकर उसकी भक्ति तथा उसके लिए यज्ञ करने वाला मानव देवता के साथ अभेद-सम्बन्ध की स्थापना अथवा अन्वेषण के लिए व्याकुल है। इसकी अभिव्यक्ति उपनिषदों के पहले के वैदिक साहित्य में कई जगह हुई है। 'मैं ही विश्व-शक्ति देवता हूँ', इसी से 'विश्व-शक्ति आत्मा है' जैसे विचार निकले।

ऋग्वेद (10/90/2) के 'पुरुष ही सब विश्व है' विचार के दृढ़ हो जाने के बाद तत्त्व-चिन्तकों ने यह निष्कर्ष निकाला कि विश्व और पुरुष एक ही है और दोनों की एकता का निर्देश 'आत्मा' शब्द से किया जाए। इसके बाद वैदिक तत्त्व-चिन्तक इस निर्णय पर पहुँचे कि विश्व-शक्ति की दृष्टि से मानव उसी विश्व-शक्ति का एक रूप है और मानव की दृष्टि से विश्व-शक्ति उसी का (मानव का) मूल रूप है। इस निर्णय के कारण उपनिषदों की प्रगति 'आत्मा ही विश्व का सत्य है' के महान् सिद्धान्त तक हो पायी।

उपनिषदों में पुरुष शब्द के अर्थ को बदलने का यही कारण है। पुरुष शब्द की अपेक्षा आत्मा शब्द अधिक निर्दोष अथवा उचित है क्योंकि मृत्यु के उपरान्त तथा जन्म के पूर्व भी उसके अस्तित्व को ऋग्वेद काल में ही मान्यता मिल गई थी।

ऋग्वेद में अस्यवामीय सूक्त (1/164) में कहा गया है कि अमर्त्य (न मरने वाला) मर्त्य शरीर से जुड़ा होता है। ऋग्वेद में कई स्थानों पर असु, प्राण तथा आत्मा तीनों शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। वेद में आत्मा शब्द प्रधान रूप से दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है— 1. देह या शरीर की जीवन शक्ति। 2. समूचा व्यक्ति। समूचे शरीर में शरीर, इन्द्रिय, अंग, मन तथा वाणी सम्मिलित है। यह व्यक्तित्व 'अहम्' के नाम से जाना जाता है। आत्मा शब्द वैदिक भाषा में सामान्य रूप से अहम् के वाचक के रूप में प्रयोग होता है। वैदिक मनीषियों की यह कल्पना थी कि वायु और प्राण एक है। यह कल्पना बाद में भी कायम रही।

ऋग्वेद में आत्मा के नाम से वायु का निर्देश बहुत बार हुआ है। वहाँ कहा गया है कि

मृत का चक्षु (आँख) सूर्य में तथा आत्मा वायु में विलीन होती है। परन्तु तत्त्व की दृष्टि से 'आत्मा' का अर्थ ऋग्वेद में 'जीनवशक्ति' था।

ऋग्वेद में 'आत्मन्' या 'त्वन्' शब्द 'स्वयम्' या 'खुद' जैसे निजी वाचक सर्वनाम के अर्थ में बार-बार आया है। यह आत्मा का तीसरा अर्थ है इसका उदाहरण है— "द्युलोक तथा पृथ्वी समूचे विश्व के स्वयं (आत्मन्) ही धारण करते हैं"। आत्मा के इन तीन अर्थों के अलावा इस शब्द का उपयोग यजुर्वेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में शरीर के मध्य भाग (छाती) के अर्थ में कई बार किया गया है। आत्मा शब्द का तात्विक प्रयोग अथर्ववेद के ब्रह्मसूक्त (10/9/44) में केवल एक बार हुआ है— " वह अकाम, धीर, अमृत, स्वयम्भू और रस से तृप्त है। उसमें किसी प्रकार की न्यूता नहीं है। उसी धीर, अजर तथा युवा आत्मा के ज्ञाता मृत्यु से नहीं डरते"।

देखने वाली बात यह है कि आत्मा शब्द से बड़े पैमाने पर विश्व सत्य की ओर संकेत करने वाली पद्धति का प्रारम्भ उपनिषदों में ही हुआ है। आत्मा की कल्पना मनुष्य की बुद्धि और विचारों की उन्नत अवस्था का परिचायक है।

इसके अतिरिक्त यहाँ यह प्रश्न अवश्य उठता है कि आत्मा की सत्ता इसी जीवन काल तक विद्यमान रहती है या जीवन की समाप्ति के बाद भी बनी रहती है। कठोपनिषद् में इसी समस्या को यम-नचिकेता संवाद में बड़े सुन्दर तरीके से समझाया गया है। जहाँ नचिकेता ने यमराज से मृत्यु का रहस्य पूछा था। मृत्यु सब रहस्यों का रहस्य है इसका विवेचन यमराज ने स्वयं किया था। आत्मा नित्य वस्तु है, वह कभी न मरता है न कभी अवस्था आदि दोष को प्राप्त होता है वह हमारी समस्त इन्द्रियों से, मन से, बुद्धि से तथा हमारी सत्ता के कारणभूत प्राणों से अलग है। रथ और रथी के रूपक के माध्यम से आत्मतत्त्व का वर्णन किया गया है— "यह शरीर रथ है, बुद्धि सारथी है, मन लगाम है, इंद्रियाँ घोड़े हैं, जो विषयरूपी मार्ग पर चला करते हैं और आत्मा रथ का स्वामी है।" (कठोपनिषद् 1/3/3-4)। कठोपनिषद् में आत्मा को रथी बतलाकर यम ने आत्मा की श्रेष्ठता सिद्ध की है। रथ के स्वामी के उपभोग के लिए ही रथ आदि की महत्ता है। उसी प्रकार आत्मा के लिए शरीर आदि विषयों का व्यापार होता है।

**आत्मा की चार अवस्थाएँ :** माण्डूक्य उपनिषद् में भी आत्मा का वर्णन प्राप्त होता है यहाँ आत्मा की चार अवस्थाएँ बतलाई गई हैं। 1. जागृत, 2. स्वप्न, 3. सुषुप्ति तथा 4. तुरीय। आत्मा की शुद्ध अवस्था 'तुरीय' कहलाती है। जाग्रत अवस्था में आत्मा बाहरी वस्तुओं का अनुभव करता है, स्वप्न अवस्था में यह आभ्यन्तर मानस जगत का अनुभव करता है, सुषुप्ति अवस्था (घोर निद्रा अवस्था) में वह अपने केवल आनन्द-स्वरूपता का अनुभव करता है। ये तीनों अवस्थाएँ आत्मा की अपर अवस्था को बताती हैं और इनमें आत्मा को क्रमशः विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ कहते हैं। इन तीनों अवस्थाओं में आत्मा के कुछ अंश का ही परिचय प्राप्त होता है। पर हम जानते हैं कि आत्मा तो पूर्ण है इसलिए पूर्ण आत्मा में ऊपर बतलाए गये सभी गुणों का अभाव रहता है। 'उस समय ना तो बाहरी चेतना रहती है न अन्तश्चेतना और न दोनों का समिश्रण प्रज्ञा और अप्रज्ञा भी नहीं रहती। अदृष्ट, अग्राह्य, अव्यवहार्य, अलक्षण, अचिन्तनीय, अत्यपदेश्य (नाम रहित), केवल आत्म-प्रत्ययसार (एक ही आत्मा की सत्ता का भान होता है), यही आत्मा है इसे ही जानना चाहिए। यही आत्मा की चौथी अवस्था तुरीय है। वह पहले बतलाई गई जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं से बिल्कुल

अलग है। ओंकार इसी आत्मा को बतलाने वाला अक्षर है।

उपनिषदों के आत्मा सम्बन्धी विचारों का सारांश निम्नलिखित प्रकार से कहा जा सकता है—

1. सब शक्तियों के मूल में एक ही अक्षर तत्त्व है, विश्व उससे भिन्न नहीं है। विश्व इसी में विलीन होता है। नाम, रूप (आकार) तथा कर्म यही विश्व का स्वरूप है। इनकी एकता ही वास्तव में आत्मा है।
2. आत्मा वह है, जिससे सब कर्मों का उत्थान होता है। आत्मा ही सबको प्रेरित करने वाली शक्ति है। मानव के मन तथा इन्द्रियों को वही प्रेरणा देता है।
3. विश्व में एक सुसंगति दिखाई देती है। उसमें सब वस्तुएँ एक-दूसरे पर निर्भर रहती हैं। इसका कारण सबको नियंत्रित करने वाली शक्ति की एकता में ही मिल सकता है।
4. सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पृथ्वी, जल, वायु, मनुष्य, पशु-पक्षी, वनस्पति आदि समस्त चेतन-अचेतन वस्तुओं में, उसी एक अन्तर्यामी का निवास है जो सभी को नियंत्रित करता है।
5. भोक्ता तथा भोग्य का भेद स्वयं निर्मित है।
6. जन्म देने की शक्ति मिथुनात्मक है। आत्मा का जनन करने वाला स्वरूप मिथुन रूप ही है।
7. विश्वात्मा ही मनुष्य के रूप से विकसित हुआ है। मनुष्य ही धर्म तथा नैतिक कर्तव्यों का केन्द्र है। सभी कर्तव्य उसके लिए ही निर्मित हुए हैं।
8. ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, प्राण, मन तथा समूचा शरीर उसी आत्मा पर निर्भर हैं। जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं के रूप वही धारण करता है।
9. यह आत्मा अपनी तीनों अवस्थाओं (जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति) से और सभी कर्मों से अलिप्त एवं असंग है। वह अज, अजर और अमर है। वह विश्व से परे है। सम्पूर्णता ही उसका लक्षण है।
10. आत्मा द्वैत से रहित, स्वयं प्रकाश, स्वयं सिद्ध द्रष्टा है। यही स्वरूप मोक्ष का सहायक है। आत्मा का स्वभाव पूर्णता है।

इस प्रकार अब हम जान चुके हैं कि परम तत्त्व के विषय मूल जिज्ञासा के उत्पन्न तत्त्व के दो नाम प्राप्त होते हैं जिन्हें 'आत्मा' अथवा 'आत्म-तत्त्व' या 'आत्मन्' तथा 'ब्रह्म' के नाम से जाना गया। इनमें से पहला शब्द आरम्भ में 'शरीर', 'असु', 'श्वास' या 'प्राण' के पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रयोग होता था। कुछ समय बाद यह आत्मा के रूप में परिवर्तित हो गया फिर यह ब्रह्म के रूप में जाना जाने लगा।

---

#### 1.4 ब्रह्म

---

आत्मा की अवधारणा की तरह ब्रह्म की अवधारणा बौद्धिक एवं दार्शनिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आत्मा की अवधारणा विराट् पुरुष की अवधारणा से उत्पन्न तथा विकसित हुई परन्तु ब्रह्म की अवधारणा का विकास महत्त्वपूर्ण घटना थी। ऋग्वेद में 'ब्रह्म' पद का मूल अर्थ है देवता की महिमा का वर्णन करने वाला काव्य। इस काव्य



को ही ऋचा, स्तोत्र या सूक्त कहा जाता है। ऋग्वेद की ऋचाओं, स्तोत्रों या मन्त्रों में देवों की महिमा, उनके पराक्रम या उनकी भक्ति करने वाली प्रार्थनाएँ पायी जाती है। इसलिए यह ऋग्वेद में स्तोत्र या स्तुति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अथर्ववेद (10/2/32) में 'ब्रह्म' शब्द यज्ञ के रूप प्रयुक्त हुआ है।

यह 'ब्रह्म' शब्द 'बृह्' धातु से बनता है जिसका अर्थ 'बढ़ना', 'बड़ा होना', 'वर्धमान होना' या 'विस्तृत होना' है। बाद में यह शब्द विश्व की चेतना-शक्ति या अन्तिम सत्य के रूप में बदल गया। शंकराचार्य 'ब्रह्म' शब्द व्युत्पत्ति 'बृहति' (अधिकता या श्रेष्ठता) से मानते हैं और उसका अर्थ शाश्वत एवं विशुद्ध करते हैं।

उपनिषदों में वर्णित ब्रह्म-विचार का प्रथम उल्लेख अथर्ववेद में दिखाई देता है। ऋग्वेद (9/96/6) में श्रेष्ठ देवताओं का निर्देश करने के लिए 'ब्रह्मा' की संज्ञा प्रयोग किया गया है। ये ब्रह्मा ही देवों के पिता, प्रजापति हैं। यजुर्वेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेक बार कहा गया है कि प्रजापति से ही सृष्टि की उत्पत्ति हुई है और प्रजापति स्वयं ही सृष्टि के रूप में परिणत हुए।

यहाँ ध्यान देने योग्य है कि प्रजापति का वाचक ब्रह्म पुल्लिंग में प्रयुक्त हुआ है। संस्कृत में जब ब्रह्म नपुंसकलिंग में प्रयुक्त होता है तब वह अन्तिम सत्य की ओर निर्देश करता है। अथर्ववेद में नपुंसकलिंग में प्रयुक्त ब्रह्म शब्द से ही निर्देश हुआ है।

अथर्ववेद के ब्रह्मचारिसूक्त (11/7/24) में कहा गया है कि 'ब्रह्मचारी तेजस्वी ब्रह्म को धारण करता है। इस ब्रह्म में ही सब देवों का समावेश है'। इस सूक्त में ब्रह्मचारी के रूप में सूर्य के रूपक की कल्पना की गई है। इसमें आगे कहा गया है कि ब्रह्मचारी तप से संसार की रक्षा करता है, उसका जन्म भी ब्रह्म से हुआ है। वेदरूप ब्रह्म ही विश्व का सृजन करने वाली शक्ति है।

इसी वेदरूप शक्ति को विश्व का कारण मानने की अवधारणा के बाद नपुंसकलिंग में प्रयुक्त ब्रह्म को विश्व का कारण माना जाने लगा। अथर्ववेद (4/1/1) में ब्रह्म को 'प्रथमज' यानि 'सबसे पहले निर्मित' कहा गया है— " प्रथम ही निर्माण होने वाला ब्रह्म ही सुन्दर रूपों को धारण करता है, अन्तरिक्ष के विविध दृश्यों को उत्पन्न करता है"।

उपनिषदों में ब्रह्म सम्बन्धी विचारों (ब्रह्म ही अन्तिम सत्य, परमसत्य या परमतत्त्व है) का बीजारोपण सबसे पहले अथर्ववेद में ही हुआ था। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि उपनिषद् इस सम्बन्ध में अथर्ववेद के ऋणी है।

उपनिषदों में प्रतिपादित परमसत्य या परमतत्त्व को ब्रह्म कहा गया है। इसके अनुसार ब्रह्म सत्, चित् और आनन्द रूप है। वही सबकी आत्मा है और उसी से जगत् की रचना होती है। तैत्तिरीयोपनिषद् के अनुसार तप एवं ब्रह्मचर्य का सम्बन्ध ब्रह्मचर्य व्रत में रहता है अतः तप ही ब्रह्म है।

तैत्तिरीयोपनिषद् (3/1) के अनुसार भृगु अपने पिता वरुण से प्रश्न करते हैं कि मुझे ब्रह्म ज्ञान कराइये। वरुण ब्रह्म का उपदेश देते हैं कि 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत् प्रयन्त्यभिसंवशन्ति तद् ब्रह्मेति।' अर्थात् जिससे संसार के सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं तथा अन्त में जिसमें लीन हो जाते हैं वही ब्रह्म है।

वस्तुतः 'ब्रह्म' शब्द का भावार्थ है उत्साह, स्फूर्ति, आनन्द, स्वयंसिद्ध, अपार सामर्थ्य और स्वातंत्र्य। स्वयंसिद्धता एवं चेतना शक्ति ही उसका लक्षण है। इन्हीं लक्षणों के कारण वेद इस निर्णय पर पहुँचे कि आत्मा ही ब्रह्म है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से उसका अर्थ है विभुत्व (सर्वव्यापी होने का गुण)। अतः छान्दोग्योपनिषद् में इसे 'भूमा' या 'महान्' का गया है। उपनिषदों में ब्रह्म शब्द का भावार्थ है— शाश्वत स्वयंभू विश्व की शक्ति, आनन्द और चेतना का परिपूर्ण भण्डार।

**निर्गुण ब्रह्म** : उपनिषदों में ब्रह्म के दो रूपों का वर्णन प्राप्त होता है— निर्गुण तथा सगुण। निर्गुणब्रह्म को 'परब्रह्म' कहा गया है। वह परब्रह्म सच्चिदानन्द रूप और निरुपाधिक होने के कारण अनिर्वचनीय है। उसे ही तैत्तिरीयोपनिषद् में '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' अर्थात् सत्य, ज्ञानरूप और अनन्त कहा गया है। इसी उपनिषद् (2/7) में उसे '**रसो वै सः**' अर्थात् वही (ब्रह्म) रस (आनन्द) रूप है। उसे ही प्राप्त कर आत्मा आनन्दयुक्त हो जाता है।

बृहदारण्यकोपनिषद् कहता है कि '**ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति**' अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है। इसी उपनिषद् में उसे '**सन्मात्रं हि ब्रह्म**' अर्थात् "वह परब्रह्म सत् है" कहा गया है।

केनोपनिषद् परब्रह्म का विवेचन करते हुए कहता है— "जो वाणी से प्रकाशित नहीं होता, किन्तु वाणी उससे प्रकाशित होती है, वही ब्रह्म है; जिसे मन से समझा नहीं जा सकता, बल्कि जिससे मन जाना हुआ हो जाता है, वही ब्रह्म है; जिसे आँख से देखा नहीं जा सकता, बल्कि जिससे आँखें देखती हैं, जिसको कान से सुना नहीं जा सकता, बल्कि जिसके द्वारा यह कान सुनते हैं, जो प्राण के द्वारा प्रेरित नहीं होता, बल्कि प्राण जिसके द्वारा प्रेरणा प्राप्त करता है, वही ब्रह्म है, उसे नहीं, जिसकी लोग उपासना करते हैं।

केनोपनिषद् के उपरोक्त कथन से यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म, वाणी, मन, चक्षु, श्रोत, प्राण का विषय नहीं है अपितु उसके परे (बाहर) का विषय है। इसी बात की पुष्टि मुण्डकोपनिषद् के इस कथन से होती है कि 'वह ब्रह्म अदृश्य, अग्राह्य, अनादि, रूप-रंग से रहित और चक्षु-श्रोत से रहित है। यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि ब्रह्म का निर्वचन अपर कहे कथन से नहीं होता तो फिर कैसे होता है?

इस प्रश्न का समाधान बृहदारण्यकोपनिषद् के याज्ञवल्क्य, गार्गी संवाद के माध्यम से होता है। जहाँ याज्ञवल्क्य गार्गी के प्रश्न का उत्तर देते हुए उस अक्षर ब्रह्म को अवाङ्मनस-गोचर बताया है, और कहा है कि वह परब्रह्म कार्य-कारण से रहित है। ब्रह्म का निर्वचन 'नेति-नेति' (इति = नेति अर्थात् यह नहीं, यह नहीं) अर्थात् निषेध के द्वारा ही वह (आत्मा) अगृह्य, अशीर्य (नष्ट न होने वाला), असंग (संग रहित) है। इस प्रकार वह परब्रह्म गुणातीत (गुणों से परे) निर्विशेष तथा अवाङ्मनसगोचर सिद्ध होता है।

**सगुण ब्रह्म** : सगुण ब्रह्म को 'अपरब्रह्म' कहा गया है। यह अपरब्रह्म, नित्य, विभु, विश्व का सर्जक, पालक एवं संहारक है और सोपाधि (उपाधि वाला) होने के कारण वर्णनीय (जिसका वर्णन या व्याख्या की जा सके) है।

छान्दोग्योपनिषद् में सगुण ब्रह्म का विवेचन 'तज्जलान्' शब्द द्वारा किया गया है। 'तज्जलान्' में तीन शब्द हैं— 'तज्ज' + 'तल्ल' + 'तदन्'। अतः 'तज्जलान्' का अर्थ है—

‘उस ब्रह्म से यह जगत् उत्पन्न होता है (तज्ज), उसी में लीन हो जाता है (तल्ल) और उसी से धारण करता है (तदन्)।’ अर्थात् इस जगत् को उत्पन्न करने वाला, धारण करने वाला और अपने में लीन करने वाला ब्रह्म ही है। तैत्तिरीयोपनिषद् भी ठीक यही सिद्धान्त प्रतिपादित करता है जिसका वर्णन निर्गुण ब्रह्म में किया जा चुका है।

इस प्रकार सगुण ब्रह्म ही इस संसार का कारण है, वही सभी का स्वामी है, वह सर्वज्ञ एवं सर्व व्यापक है वही इस जगत् का प्रतिष्ठान है। ब्रह्म के सन्दर्भ में कहे गये सम्पूर्ण कथन का सारांश है कि उपनिषदों में ब्रह्म के दो रूपों का निर्देश मिलता है— निर्गुण और सगुण। निर्गुण ब्रह्म को ही ‘परब्रह्म’ कहा गया है। यह सच्चिदानन्द, अवाङ्मनसगोचर एवं निरुपाधि (बिना उपाधि का) होने के कारण अनिर्वचनीय है। सगुण ब्रह्म को ‘अपरब्रह्म’ कहा गया है। यह नित्य, विभु और विश्व का रचयिता, पालक और संहारक है और सोपाधि होने के कारण वर्णनीय है।

## 1.5 पुरुषोत्तम

वेद और उपनिषदों में वर्णित प्रजापति, हिरण्यगर्भ, विराट पुरुष, परम पुरुष का आध्यात्मिक आदर्शवाद गीता में ईश्वरवादी धर्म के रूप में बदल जाता है जिसमें प्रेम, प्रार्थना भक्ति का मिश्रण है। क्योंकि जब तक हमें परम तत्त्व या परब्रह्म का साक्षात्कार नहीं होता और हम इस आनुभविक जगत् में जी रहे हैं। तब तक हमें उक्त विषय की व्याख्या के लिए एक सर्वशक्तिमान ईश्वर की आवश्यकता है, इसी को गीता में पुरुषोत्तम कहा गया है।

परमसत्ता या परम तत्त्व का बिना आकार के होना अथवा अशरीरधारी होना, सामान्य मनुष्य की दृष्टि में उसका बहुत अधिक महत्त्व नहीं रखता है। गीता, उपनिषदों के आध्यात्मिक आदर्शवाद को मनुष्य जाति के दैनिक जीवन के अनुकूल बनाने के लिए तत्पर होती है। इसके लिए वह परमतत्त्व की दैवीय क्रिया तथा परमतत्त्व द्वारा प्रकृति (संसार) के कार्यों में भाग लेने सम्बन्धी दोनों विचार का समर्थन करती है।

गीता हमारे सामने एक ऐसे ईश्वर की कल्पना प्रस्तुत करती है जो सामान्य मनुष्य के जीवन के लिए लाभदायी और सन्तोषप्रद तो है ही, साथ में उसके आध्यात्मिक उत्थान के लिए भी लाभप्रद है। गीता का पुरुषोत्तम (ईश्वर) ऐसी यथार्थ सत्ता है जो अनन्त और सान्त दोनों से ऊपर है। परमात्मा संसार का जनक (उत्पादक) तथा कारण है जो अद्वितीय शक्ति के रूप में समस्त प्राणियों में व्याप्त है। यह संसार अंग-अंगी भाव (मानव का शरीर और उसका अंग) से पुरुषोत्तम के साथ जुड़ा हुआ है। पुरुषोत्तम ऊपर से लेकर नीचे तक की सभी वस्तुओं में विद्यमान है।

इसी कारण पुरुषोत्तम तत्त्व को गीता का महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना जाता है। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त ‘पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्’ अर्थात् ‘‘जो कुछ है, जो हुआ अथवा होगा वह यह एक पुरुष ही है’’ की इस भावना को गीता (10/8) में भली भाँति प्रस्तुत किया गया है— ‘‘सब कुछ मैं ही हूँ और इसके परे भी मैं ही हूँ’’। पुनः वहाँ (गीता 7/7) कहा गया है कि ‘मयि सर्वमिदं प्रोतम्’ अर्थात् मुझसे श्रेष्ठतर तत्त्व कुछ भी नहीं है, मुझमें यह सम्पूर्ण जगत् समाया हुआ है।

गीता में सांख्य दर्शन का प्रतिपादन अनेक जगहों पर हुआ है। सांख्य दर्शन की

द्वैतवादी मान्यतानुसार इस सम्पूर्ण जगत् के कारण के रूप में जड़ प्रकृति ही मूल तत्त्व है। इसे अव्यक्त या प्रधान भी कहा गया है। चेतन पुरुष तत्त्व निष्क्रिय तथा असंग है, वह सृष्टि रचना के कार्य में भाग नहीं लेता। गीता (9/10) में इन दोनों तत्त्वों से परे एक सर्वव्यापक, अद्वितीय तत्त्व को स्वीकार करती है जो प्रकृति-पुरुष दोनों से भिन्न है। यह अद्वितीय तत्त्व सम्पूर्ण जगत् का मूलाधार है।

गीता (15/16) के अनुसार पदार्थों की संख्या तीन है और उन पदार्थों को पुरुष कहा गया है। ये तीन पदार्थ हैं— क्षर (क्षेत्र), अक्षर (क्षेत्रज्ञ) और उत्तम पुरुष। गीता (15/18) में उत्तम पुरुष को ही प्रकारान्तर से पुरुषोत्तम कहा गया है— **‘अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः’** अर्थात् मैं (उत्तमपुरुष) लोक में तथा वेद में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ। अतः गीता सर्वेश्वरवाद से ऊपर उठकर पुरुषोत्तम का व्याख्यान करती है।

यहाँ पर ध्यान देने योग्य है कि अक्षर ब्रह्म तथा पुरुषोत्तम में भेद है। जड़ जगत् से भिन्न चेतन ब्रह्म या चेतन तत्त्व को अक्षर ब्रह्म कहते हैं। परन्तु जो ईश्वर इस विश्व में व्याप्त रहते हुए भी इससे परे है, वह जगत् के समस्त पदार्थों में स्थित है और साथ ही साथ उससे अलग भी है। वह विश्व के अन्दर रहते हुए भी विश्व से बाहर है वही ईश्वर पुरुषोत्तम है। पुरुषोत्तम शब्द दो शब्दों से मिलकर बनता है— पुरुष और उत्तम। पुरुष के बारे में पहले ही बतलाया जा चुका है उत्तम शब्द उसकी उत्तमता या श्रेष्ठता को बतलाता है।

**परा और अपरा प्रकृति :** गीता का पुरुषोत्तम तत्त्व वेद, वेदान्त और दर्शन के परम तत्त्व से भिन्न अर्थ रखता है। क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम गीता के तीन तत्त्व हैं। क्षर उसकी अपरा प्रकृति है, जिसका अधिभूत, क्षेत्र और अश्वत्थ भी कहा गया है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार ये आठ भगवान् की अपरा प्रकृति के रूप हैं।

अक्षर तत्त्व उसकी परा प्रकृति है, जिसको अध्यात्मा, पुरुष तथा क्षेत्रज्ञ भी कहा जाता है। अनन्त ब्रह्माण्ड के रूप में प्रकाशित प्रकृति-पुरुष उस पुरुषोत्तम की अपरा और परा प्रकृतियाँ हैं। उसकी यह अपरा प्रकृति जड़ है और परा प्रकृति चेतन। इस दोनों जड़-चेतन के संयोग से ही इस जगत् की उत्पत्ति हुई है।

‘गीता’ के अनुसार प्रकृति पुरुष के संयोग से इस जगत् की उत्पत्ति हुई है किन्तु वे दोनों दो नहीं, एक ही है। प्रकृति और पुरुष परमात्मा नहीं अपितु परमतत्त्व के प्रकाशक मात्र हैं। गीता में इस जगत् को भगवान् की प्रकृति कहा गया है और इसलिए जगत् भगवान् का ‘विवर्त’ (आभास) तथा परिणाम न होकर ईश्वर में ही व्याप्त है।

जगत् का नित्य अस्तित्व है क्योंकि वह भगवान् की लीला या अभिव्यक्ति है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि जगत् की अपेक्षा भगवान् व्यापक है और जगत् उसका एक अंश मात्र है। इसलिए जगत् अंग-अंगी भाव से पुरुषोत्तम से जुड़ा है। वह पुरुषोत्तम अनन्त, अखण्ड, असीम तथा अजेय है। यह पुरुषोत्तम स्वयं श्रीकृष्ण ही है। गीता में उत्तम पुरुष के रूप में कृष्ण ने अपनी विभूतियों का वर्णन किया है।

**सगुण और निर्गुण रूप :** गीता के पुरुषोत्तम कृष्ण सगुण निर्गुण, निराकारण साकार सभी कुछ है, प्रकृति के गुणों (सत्, रज, तम) का अभाव होने पर वे निर्गुण है और लीलामय होने के कारण सगुण है। पुरुषोत्तम यद्यपि अखण्ड तत्त्व है किन्तु लीला के कारण पुरुषोत्तम के अनेक रूप है। वही एकत्व, अनेकत्व है। ब्रह्मरूप में एकत्व है और प्रकृति रूप में होने से अनेकत्व रूप धारण किये हुए है। उनकी विश्व लीला को देखकर ज्ञात होता है कि वे अनेक है, जन्म मृत्यु के वश में है और असीम है। यह भी पुरुषोत्तम की एक अवस्था है, जो क्षर रूप कही जाती है जिसे वे अपने भक्तों के लिए धारण करते हैं।

**अक्षर :** किन्तु एक रूप उनका इससे भी बढ़कर है, जिसे अक्षर कहते हैं। इस अवस्था में भगवान् प्रकृति से सर्वथा अलग रहते हैं। इस अवस्था में पुरुषोत्तम, द्रष्टा, उदासीन, विमुक्त और स्वाधीन होते हैं। यह उनका निर्गुण रूप है।

संक्षेप में कहा जाय तो बद्ध जीव की अवस्था का नाम क्षर और शान्त निर्गुण अवस्था का नाम अक्षर है। इन दोनों रूपों के अतिरिक्त तीसरा रूप दोनों रूपों में श्रेष्ठ और सर्वोच्च है जिसके अन्दर क्षर और अक्षर समा जाते हैं। यह रूप पुरुषोत्तम कहलाता है।

इस अवस्था में सगुण और निर्गुण दोनों संयुक्त है। क्षर के रूप में कृष्ण विश्व लीला में एकाकार है, अक्षर रूप में वे अपनी ही लीला देख रहे हैं। और पुरुषोत्तम रूप में वे अपनी प्रकृति को संचालित कर विश्व को सार्थक कर रहे हैं। अपने तीनों रूपों को गीता में वर्णित करते हुए कृष्ण कहते हैं कि इस संसार में क्षर (नाशवान) और अक्षर (अविनाशी) दो तरह के पुरुष है उत्तम पुरुष (पुरुषोत्तम) इन दोनों से भिन्न है, जो परमात्मा कहा गया है। ब्रह्म प्राप्ति के समान ही उसकी 'पराभक्ति' प्राप्त होती है और उस पराभक्ति के द्वारा उनका वास्तविक स्वरूप देखा जा सकता है।

इस प्रकार हमने देखा कि भगवद्गीता में पुरुषोत्तम शब्द का अर्थ 'परम उत्तम पुरुष' है जिसे श्रीकृष्ण ने स्वयं के द्वारा व्याख्यायित किया है। इसमें पुरुषोत्तम को अद्वितीय, अनन्त, सर्वशक्तिमान और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का आधार माना गया है। उसका सार्वभौम एवं सर्वव्यापी स्वरूप समस्त जीवों के उत्थान एवं प्रवृत्ति का कारण है। इस पुरुषोत्तम की उपासना, भक्ति और सर्वधर्मों में समर्पण से मनुष्य उस परम तत्त्व को प्राप्त कर सकता है।

### 1.5.1 परा एवं अपरा प्रकृति

गीता का पुरुषोत्तम तत्त्व वेद, वेदान्त और दर्शन के परम तत्त्व से भिन्न अर्थ रखता है। क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम गीता के तीन तत्त्व है। क्षर उसकी अपरा प्रकृति है, जिसका अधिभूत, क्षेत्र और अश्वत्थ भी कहा गया है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार ये आठ भगवान् की अपरा प्रकृति के रूप है।

अक्षर तत्त्व उसकी परा प्रकृति है, जिसको अध्यात्मा, पुरुष तथा क्षेत्रज्ञ भी कहा जाता है। अनन्त ब्रह्माण्ड के रूप में प्रकाशित प्रकृति-पुरुष उस पुरुषोत्तम की अपरा और परा प्रकृतियाँ है। उसकी यह अपरा प्रकृति जड़ है और परा प्रकृति चेतन। इस दोनों जड़-चेतन के संयोग से ही इस जगत् की उत्पत्ति हुई है।

‘गीता’ के अनुसार प्रकृति पुरुष के संयोग से इस जगत् की उत्पत्ति हुई है किन्तु वे दोनों दो नहीं, एक ही है। प्रकृति और पुरुष परमात्मा नहीं अपितु परमतत्त्व के प्रकाशक मात्र है। गीता में इस जगत् को भगवान् की प्रकृति कहा गया है और इसलिए जगत् भगवान् का ‘विवर्त’ (आभास) तथा परिणाम न होकर ईश्वर में ही व्याप्त है।

जगत् का नित्य अस्तित्व है क्योंकि वह भगवान् की लीला या अभिव्यक्ति है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि जगत् की अपेक्षा भगवान् व्यापक है और जगत् उसका एक अंश मात्र है। इसलिए जगत् अंग-अंगी भाव से पुरुषोत्तम से जुड़ा है। वह पुरुषोत्तम अनन्त, अखण्ड, असीम तथा अजेय है। यह पुरुषोत्तम स्वयं श्रीकृष्ण ही है। गीता में उत्तम पुरुष के रूप में कृष्ण ने अपनी विभूतियों का वर्णन किया है।

### 1.5.2 सगुण एवं निर्गुण रूप

गीता के पुरुषोत्तम कृष्ण सगुण निर्गुण, निराकारण साकार सभी कुछ है, प्रकृति के गुणों (सत्, रज, तम) का अभाव होने पर वे निर्गुण है और लीलामय होने के कारण सगुण है। पुरुषोत्तम यद्यपि अखण्ड तत्त्व है किन्तु लीला के कारण पुरुषोत्तम के अनेक रूप हैं। वही एकत्व, अनेकत्व है। ब्रह्मरूप में एकत्व है और प्रकृति रूप में होने से अनेकत्व रूप धारण किये हुए है। उनकी विश्व लीला को देखकर ज्ञात होता है कि वे अनेक हैं, जन्म मृत्यु के वश में हैं और असीम हैं। यह भी पुरुषोत्तम की एक अवस्था है, जो क्षर रूप कही जाती है जिसे वे अपने भक्तों के लिए धारण करते हैं।

**अक्षर :** किन्तु एक रूप उनका इससे भी बढ़कर है, जिसे अक्षर कहते हैं। इस अवस्था में भगवान् प्रकृति से सर्वथा अलग रहते हैं। इस अवस्था में पुरुषोत्तम, द्रष्टा, उदासीन, विमुक्त और स्वाधीन होते हैं। यह उनका निर्गुण रूप है।

संक्षेप में कहा जाय तो बद्ध जीव की अवस्था का नाम क्षर और शान्त निर्गुण अवस्था का नाम अक्षर है। इन दोनों रूपों के अतिरिक्त तीसरा रूप दोनों रूपों में श्रेष्ठ और सर्वोच्च है जिसके अन्दर क्षर और अक्षर समा जाते हैं। यह रूप पुरुषोत्तम कहलाता है।

इस अवस्था में सगुण और निर्गुण दोनों संयुक्त है। क्षर के रूप में कृष्ण विश्व लीला में एकाकार है, अक्षर रूप में वे अपनी ही लीला देख रहे हैं। और पुरुषोत्तम रूप में वे अपनी प्रकृति को संचालित कर विश्व को सार्थक कर रहे हैं। अपने तीनों रूपों को गीता में वर्णित करते हुए कृष्ण कहते हैं कि इस संसार में क्षर (नाशवान) और अक्षर (अविनाशी) दो तरह के पुरुष हैं उत्तम पुरुष (पुरुषोत्तम) इन दोनों से भिन्न है, जो परमात्मा कहा गया है। ब्रह्म प्राप्ति के समान ही उसकी ‘पराभक्ति’ प्राप्त होती है और उस पराभक्ति के द्वारा उनका वास्तविक स्वरूप देखा जा सकता है।

इस प्रकार हमने देखा कि भगवद्गीता में पुरुषोत्तम शब्द का अर्थ ‘परम उत्तम पुरुष’ है जिसे श्रीकृष्ण ने स्वयं के द्वारा व्याख्यायित किया है। इसमें पुरुषोत्तम को अद्वितीय, अनन्त, सर्वशक्तिमान और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का आधार माना गया है। उसका सार्वभौम एवं सर्वव्यापी स्वरूप समस्त जीवों के उत्थान एवं प्रवृत्ति का कारण है। इस पुरुषोत्तम की उपासना, भक्ति और सर्वधर्मों में समर्पण से मनुष्य उस परम तत्त्व को प्राप्त कर सकता है।

## 1.6 ईश्वर

भारतीय चिन्तन धारा की अविरल प्रवाह शृंखला समय-चक्र के साथ धीरे-धीरे परिवर्तित होती गई। परम तत्त्व की मूल जिज्ञासा ऋग्वैदिक काल में प्रजापति, हिरण्यगर्भ, विराट पुरुष, परम पुरुष, पुरुष की अवधारणा से होते हुए औपनिषदिक काल में पहले आत्मतत्त्व, आत्मा या आत्मन् के रूप में परिवर्तित हुई फिर औपनिषदिक चिन्तन की पराकाष्ठा के फलस्वरूप यह परम तत्त्व ब्रह्म के रूप में बदल गया। कालान्तर में पुनः यही परमतत्त्व की मूल जिज्ञासा श्रीमद्भगवद्गीता में पुरुषोत्तम के रूप में परिणत हुई। पुरुषोत्तम की अवधारणा को गीता में प्रश्रय तो मिला ही साथ ही वेदांत की वैष्णव विचारधारा के अनुयायियों जैसे रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य और बल्लभाचार्य के विचारों में भी पुष्पित एवं पल्लवित हुई।

फिर बाद में वेदान्त के वैष्णव आचार्यों की ईश्वर सम्बन्धी अवधारणा ने पुराण काल तक आते-आते, विराट, शुद्ध, चैतन्यस्वरूप, कूटस्थ, नित्य, शुद्ध, मुक्त परमतत्त्व के स्थान पर साकार, सगुण, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान, दयालु, करुणामय, भक्तों पर अनुग्रह करने वाले ईश्वर का रूप धारण कर लिया। जहाँ उन्हें ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि के पूजा जाने लगा।

ईश्वर तत्त्व भारतीय मनीषियों की वो अतुलनीय कल्पना है जिसकी छाँव में सम्पूर्ण भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति उत्तरोत्तर समृद्ध एवं विकसित हुई है। ईश्वर की उत्पत्ति और विकास वेद, उपनिषद्, पुराण, स्तोत्र ग्रन्थों के माध्यम से हुआ है। वेदों में अनेकेश्वरवाद के माध्यम से प्राकृतिक शक्तियों (जैसे इन्द्र, अग्नि, वरुण, सूर्य, चन्द्र, वायु) को ईश्वर के रूप में पूजा जाता था। उपनिषदों में ईश्वर को सगुण एवं निर्गुण रूपों में प्रस्तुत किया गया।

भारतीय दर्शन के आस्तिक सम्प्रदायों के कुछ सम्प्रदाय जैसे न्याय दर्शन, वैष्णव वेदान्त आदि में ईश्वर की सिद्धि पर बल दिया गया है। उदयनाचार्य जैसे नैयायिक ने अपनी कृति न्यायकुसुमांजलि में दार्शनिक दृष्टि से न केवल ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि की है अपितु भक्त के दृष्टिकोण से यह भी कहा है— **“ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय वर्तते। उपस्थितेषु बौद्धेषु ममधीना तव स्थितिः”** ॥ अर्थात् हे भगवन् ! तुम अपने ऐश्वर्य में मदमत्त होकर मेरा अपमान कर रहे हो, पर इतना ध्यान रखना कि बौद्धों के आने पर मैं तुम्हारे अस्तित्व को स्वीकार कर तुम्हारी रक्षा करूँगा। वेदान्त दर्शन में ब्रह्म और ईश्वर का वर्णन प्राप्त होता है जो मोक्ष प्राप्ति के लिए महत्त्वपूर्ण है। यहाँ ईश्वर के सगुण एवं निर्गुण स्वरूप का वर्णन प्राप्त होता है। यद्यपि आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म प्राप्ति अथवा मोक्ष ज्ञान के माध्यम से ही सम्भव है। जबकि वैष्णव वेदान्त में यह श्रद्धा और भक्ति का विषय है। अब रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद में ईश्वर के स्वरूप का वर्णन किया जाएगा।

### 1.6.1 रामानुजाचार्य का मत

रामानुजाचार्य के अनुसार ब्रह्म, चित्-अचित् से विशिष्ट सत् है इसीलिए रामानुज का सिद्धान्त विशिष्टाद्वैतवाद कहलाता है। विशिष्टाद्वैत का अर्थ है विशिष्ट अद्वैत। रामानुज के ईश्वर निरूपण में तीन बिन्दु मुख्य हैं— चित्, अचित् और ब्रह्म। चित् का अर्थ है 'चेतन जीव', अचित् जगत् को कहते हैं तथा ब्रह्म जो परमतत्त्व है वही ईश्वर

कहलाता है। ब्रह्म अथवा ईश्वर ही इस जगत् का कारण और कार्यरूप उपादान है। सृष्टि ईश्वर की इच्छा में होती है। इसका प्रयोजन केवल लीला है। ईश्वर या ब्रह्म की प्रेरणा, इच्छा या लीला से जगत् या सृष्टि का निर्माण होता है।

ईश्वर हेय गुणों से रहित तथा अशेष कल्याण के गुण सागर है। वे वासुदेव या नारायण है। श्रीपति अथवा लक्ष्मीपति है, वे सर्वज्ञ, सर्वव्यापी तथा सर्वशक्तिमान और करुणा सागर है। उनके दिव्यगुण नित्य, शुद्ध और अनन्त है। उनका ज्ञान, आनन्द, प्रेम, ऐश्वर्य, कृपा आदि अपार है। ईश्वर एक हैं किन्तु अपने भक्तों पर अनुग्रह करने के कारण वे स्वयं की पाँच रूपों में प्रकट करते हैं— अन्तर्यामी, पर, व्यूह, विभव और अर्चावतार। चित् अचित् रूप विश्व में अन्तर्यामी आत्मा के रूप में वे व्याप्त रहकर उसका संचालन करना, ईश्वर का अन्तर्यामी रूप है। 'पर' रूप में वे परात्पर नारायण या वासुदेव है। उनका तीसरा रूप 'व्यूह' है जिसमें वे चतुर्व्यूह के रूप में प्रकट होते हैं। ये चार व्यूह है— वासुदेव, संकषर्ण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। उनका चौथा रूप विभव या अवतार कहलाता है। अर्चावतार में वे भक्तों पर असीम कृपा करते हैं।

### 1.6.2 मध्वाचार्य का मत

द्वैतवाद अथवा ब्रह्म सम्प्रदाय के प्रवर्तक मध्वाचार्य के सिद्धांतों में परमतत्त्व या परमात्मा विष्णु है जो सभी प्रकार से पूर्ण है। वे अनन्त गुणों से परिपूर्ण है। उनका प्रत्येक गुण पूर्ण, निरवधि (जिसकी समाप्ति की कोई भी अवधि न हो) और निरतिशय (अत्यधिक बहुलता) है। वे उत्पत्ति, स्थिति, संहार, नियमन, आवरण, ज्ञान, बन्धन और मोक्ष इन आठों के नियंत्रक है। परमात्मा विभिन्न अवतारों यथा मत्स्य, कूर्म, वाराह आदि को धारण करते हैं। वे सर्वज्ञ तथा एकराट् कहलाते हैं। वे सभी प्रकार के तन्त्रों से स्वतन्त्र तथा एक है। वे जीव, जड़ प्रकृति से अत्यन्त विलक्षण है।

### 1.6.3 निम्बार्काचार्य का मत

निम्बार्काचार्य के मत को द्वैताद्वैत कहा जाता है। रामानुज की भाँति निम्बार्काचार्य भी चित्, अचित् और ईश्वर तीन तत्त्व मानते हैं। समस्त जगत् उस परब्रह्म में स्थित है और इसी में उसका पर्यावसान होता है। ईश्वर में अनंत वस्तुओं को उत्पन्न करने की शक्ति है। वह परमात्मा, ब्रह्म, वैश्वानर, पुरुषोत्तम, भगवान् आदि नामों से जाना जाता है। वह सर्वज्ञ, अचिंत्य, सत्कर्मों का फलदाता है। वह जगत् स्रष्टा सबसे भिन्न और सबसे अभिन्न और आनन्दमय, पाप—पुण्य से परे तथा सगुण है। निम्बार्क ने रामानुज के ऐश्वर्य प्रधान भक्ति के स्थान पर माधुर्य प्रधान भक्ति का उपदेश दिया।

### 1.6.3 वल्लभाचार्य का मत

वल्लभ का सिद्धान्त शुद्धाद्वैतवाद कहलाता है। इसके अनुसार माया से अलिप्त ब्रह्म ही अद्वैत तत्त्व है। ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व है जो शुद्ध है। सारा जगत् उसी की लीला का परिणाम है। यह ब्रह्म ही कृष्ण है अथवा कृष्ण ही ब्रह्म है। वह अनन्त शक्तियों से सम्पन्न है किन्तु उनकी तीन शक्तियों का अधिक महत्त्व है— स्वरूप शक्ति, तटस्थ शक्ति तथा माया शक्ति। स्वरूप शक्ति को चेतना की शक्ति कहा जाता है। तटस्थ शक्ति जीव को जन्म देती है। माया शक्ति से प्रकृति तथा जगत् का आविर्भाव होता है। अधर्म का नाश एवं धर्म के उत्थान के लिए भगवान् अवतार लेते हैं। कृष्ण अवतार है। यहाँ कहा गया है कि "कृष्णात् परं किमपि तत्त्वं अहं न जानि" अर्थात् श्रीकृष्ण के



सिवा और कोई परम तत्त्व है, यह मैं नहीं जानता।

इस प्रकार हमने जाना कि वैष्णव आचार्यों के दार्शनिक सिद्धान्तों में परमतत्त्व केवल और केवल विष्णु, हरि या कृष्ण है। जो इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि औपनिषदिक ब्रह्मवाद और भागवत (वैष्णव) धर्म के ईश्वरवाद का एकीकरण हो चुका था। वास्तव में, वैष्णव आचार्यों में औपनिषदिक ब्रह्मवाद का दार्शनिक भाव तो प्रबल था, साथ ही, धार्मिक आकांक्षाएँ भी उतनी ही प्रबल थी। इन सभी आचार्यों ने धार्मिक भावनाओं की मांग का दार्शनिक और तार्किक विचार-पद्धति के साथ समन्वय करने का प्रयास किया किया था। जो भारतीय जनमानस की भावनाओं से सीधे जुड़ा था।

---

## 1.7 सारांश

---

इस इकाई के अध्ययन द्वारा हमें यह ज्ञात होता है कि दार्शनिक बौद्धिकता की दुरुह यात्रा का सुखद समापन मनन के द्वारा चित् को निर्मल कर परमतत्त्व ईश्वर के दर्शन से होता है।

भारतीय चिन्तन परम्परा परम तत्त्व की जिज्ञासा से प्रारम्भ होती है। अपने प्रारम्भिक स्वरूप में यह परमतत्त्व प्रजापति, हिरण्यगर्भ और विराट् पुरुष के रूप में हमारे सम्मुख आती है, जो सकल ब्रह्माण्ड एवं समाज का अधिपति था। मानवीय बुद्धि के विकासक्रम में परमतत्त्व की यह जिज्ञासा उपनिषद् काल में आत्मा या ब्रह्म का रूप ले लेती है।

राष्ट्र-भाव, समाज और धर्म की चेतना ज्यों-ज्यों विकसित होती गयी त्यों-त्यों परमतत्त्व सम्बन्धी मूल जिज्ञासा पहले पुरुषोत्तम तत्त्व फिर वेदान्तीय वैष्णव विचारधारा तथा पुराण काल में इसने ईश्वर का रूप धारण कर लिया। ईश्वर के साकार रूप को अपनाने के कारण यह विचारधारा भारतीय जन-सामान्य के मन में पूर्ण रूप से समा गयी। जिसका प्रभाव आज भी अक्षुण्य है।

पुरुष, पुरुषोत्तम, आत्मा, ब्रह्म और ईश्वर वस्तुतः एक ही तत्त्व का प्रतिनिधित्व करते हैं। हमारे इस विचार को और भी दृढ़ करने के लिए पुष्पदत्त कृत शिवमहिम्नःस्तोत्र की पंक्तियों का उल्लेख करना बिल्कुल उचित है— 'रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव' अर्थात् रुचियों की विचित्रता से सीधे-टेढ़े विभिन्न मार्गों से चलने वाले साधकों के लिए गन्तव्य तो एक ही है। जिस प्रकार विभिन्न मार्गों से बहती सभी नदियाँ अन्त में समुद्र में ही जा मिलती है। उसी प्रकार परमतत्त्व तो एक ही है, भले ही साधक या जिज्ञासु उसे भिन्न-भिन्न नामों से पुकारें।

---

## 1.8 पारिभाषिक शब्दावली

---

---

## 1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

---

1. ऋग्वेद संस्कृत बरेली 2002 ई.
2. यजुर्वेद संस्कृत बरेली 2002 ई.
3. अथर्ववेद संस्कृत बरेली 2002 ई.
4. ईशादि नौ उपनिषद् – शांकरभाष्य – गीता प्रेस गोरखपुर सं. 2071  
(ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय एव श्वेताश्वतर उपनिषद्)
5. छान्दोग्योपनिषद् श्रीरामानन्द वेदान्त प्रचारक समिति अहमदाबाद 2025 वि.
6. वृहदारण्यक उपनिषद् श्रीरामानन्द वेदान्त प्रचारक समिति अहमदाबाद 2025 वि.
7. केनाद्युपनिषद् पुरुषसूक्त श्री सूत्र भाष्यम – द सुन्दरम् चैरीटीज मद्रास 1973  
वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र) गीता प्रेस गोरखपुर 2041 सं.

---

## 1.10 बोध प्रश्न

---

1. भारतीय दर्शन में पुरुष की अवधारणा की विवेचना कीजिए।
2. भारतीय दर्शन में आत्मा की अवधारणा की विवेचना कीजिए।
3. भारतीय दर्शन में ब्रह्म की अवधारणा की विवेचना कीजिए।
4. भारतीय दर्शन में पुरुषोत्तम की अवधारणा की विवेचना कीजिए।